Review Of Research
Vol. 4 | Issue. 6 | March. 2015
Impact Factor : 3.1402 (UIF)
ISSN:-2249-894X
Available online at www.ror.isrj.org

ORIGINAL ARTICLE

भारतीय हिन्दी सिनेमा और स्त्री पहनावा

सुमन , संजय कुमार सिंह

पीएच.डी. शोधाार्थी (हिन्दी विभाग) दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश :

भारतीय हिन्दी सिनेमा के सौ वर्ष पूरे हो चुके हैं। हिन्दी-सिनेमा ने अब तक हर विषय को फिल्म में दर्शाने का कार्य किया है। किन्तु अब बाज़ारवाद के बाद फिल्मों से सार्थक सिनेमा लगभग ख़त्म होता जा रहा है। 1990 से पहले की फिल्मों में सामाजिक-मुद्दे जगह पाते थे। किन्तु बाज़ारवाद के बाद बाज़ार तय करता है कि फिल्मों में क्या, कब, कैसे दिखाना है। हिन्दी-सिनेमा की शुरूआत में जब स्त्री-पात्र की भूमिका निभाने का समय आता था तब पुरुष ही स्त्री-पात्र की भूमिका निभाते थे। फिल्मों के शुरूआती दौरे में किसी स्त्री का फिल्मों में आना अच्छा नहीं माना जाता था।

प्रस्तावना

1913 में जब दादा फालके 'राजा हरिश्चंद्र' बना रहे थे तो उन्हें तारामती की भूमिका के लिए कोई महिला नहीं मिली थी। लेकिन आज सिनेमा में स्त्री की स्थिति वह नहीं है जो उस समय थी। आज न केवल महिला-प्रधान फिल्में बन रही हैं बल्कि सिनेमा से जुड़े हर पक्ष पर महिलाओं का दखल भी पहले से ज्यादा दिख रहा है।

Review Of Research
Vol. 4 | Issue. 6 | March. 2015
Impact Factor : 3.1402 (UIF)
ISSN:-2249-894X Available online at www.ror.isrj.org

हिन्दी सिनेमा में स्त्रियों की भागीदारी पहले से ज्यादा नज़र आती है। हिन्दी-सिनेमा आज़ादी के बाद आधुनिक भारत में सदियों से चली आ रही मान्यताओं, परंपराओं, रूढ़ियों को बदलने का समय था। खासतौर से आरतों के प्रति सनातनी समाज की बनाई गई श्रृंखलाओं को तोड़ने का समय था। भारत आज़ाद हुआ तब ज्यादा क्षति औरतों और बच्चों को पहुँची क्योंकि इस समय भारत-विभाजन की त्रासदी झेल रहा था। 'समाज में सांप्रदायिकता जातिवाद और सामंती मानसिकता का शिकार महिलाएँ सबसे ज्यादा हुई।[प] इस समय के अनेक फिल्मकारों ने स्त्री को केन्द्र में रखा और स्त्रियों को सदियों से जकड़ने वाली मान्यताओं, परंपराओं का विरोध किया। इनमें मदर इंडिया, सुजाता, बंदिनी, गाइड जैसी फिल्मों के नाम गिनाये जा सकते हैं। इन फिल्मों ने स्त्रियों को अपने स्वाभिमान, सम्मान, अधिकारों के प्रति जाग्रत किया। 'कला-सिनेमा आंदोलन ने स्त्री को उसकी समूची मानवीय अपेक्षाओं के साथ प्रस्तुत किया। अंकुर (1974), आंधी (1975), भूमिका (1977), रजनीगंधा (1974), मंडी (1983), उमरावजान (1981) जैसी फिल्मों के जरिये तत्कालीन फिल्मकारों ने महिलाओं के जीवन से जुड़े तमाम मुद्दों को सिनेमा का विषय बनाया। कह सकते हैं कि कला-सिनेमा आंदोलन का यही समय था जब स्त्री-प्रश्न पूरी गंभीरता से सिनेमा के विषय के रूप में स्थापित हुआ।'[पप] किंतु यह दौर अधिक लंबा नहीं खींच सका। भ्मंडलीकरण ने स्त्री को केवल 'देह' बना दिया। धीरे-धीरे फिल्मों में 'स्त्रियों की छवि पवित्र देवी आदरणीय की नहीं रह गई, उस औरत की है जो अपनी देह से पुरुष को खींचती-सींचती है।'[पपप] आज के दौर में हिन्दी-सिनेमा जगत में नारी देह है, वस्तु माल है, बाजार है, भूख का भोग है। नव-पूंजीवादी-व्यवस्था में नारी ब्रांड है।

हिन्दी-सिनेमा को चलाने वाले अधिकतर पुरुष हैं। उन पर भी पितृ-सत्तात्मक-समाज की वहीं सोच हावी रहती है जिसमें स्त्री को एक वस्तु माना गया है। उसे माया मानकर भोग, भय, घृणा, उपहास का ही कारक बनाया है। नारी केवल पुरुष की काम-भावना को शांत करने का साधन है। फिल्मी-दुनिया में अभिनेत्रियों को अभिनेताओं के मुकाबले कम पारिश्रमिक मिलता है। आखिर क्यों.... अभी कुछ दिनों पहले दैनिक हिन्दुस्तान में यह खबर आई थी कि कई अभिनेत्रियों ने यह सवाल उठाया है कि हीरों के मुकाबले उन्हें कम पारिश्रमिक क्यों मिलता है?... एक ओर समाज स्त्री-पुरुष की समानता की बात करता है तब यह भेदभाव क्यों?

हिन्दी-सिनेमा में पहनावा यानी कि अभिनेत्री के वस्त्र बहुत महत्वपूर्ण हो गये हैं। अगर हम पहले की फिल्मों की बात करें तो उस समय पहनावा भाषा, समय, चरित्र और स्पेस के अनुसार होता था। जैसे मदर इंडिया, सुजाता, बंदिनी जैसी फिल्में एक जीता-जागता उदाहरण है। किन्तु आज चरित्र कोई मायने नहीं रखता। आज फिल्मों में अभिनेत्रियों (कैरेक्टर) के कपड़े बाज़ार तय करता है। 'कमबख़्त-इश्क'

Review Of Research
Vol. 4 | Issue. 6 | March. 2015
Impact Factor : 3.1402 (UIF)
ISSN:-2249-894X
Available online at www.ror.isrj.org

फिल्म में करीना कपूर की बिकनी 1 करोड़ की थी। प्रश्न उठता है ऐसा क्या था उस बिकनी में... बिकनी में कुछ नहीं था बल्कि करीना कपूर के देह को दिखाना था। आज भोगवादी संस्कृति में अभिनेत्रियों का अभिनय मायने नहीं रखता बल्कि उनका देह मायने रखता है। आज अभिनेत्रियों के अभिनय की जगह उनके देह का मोल लगता है। अगर ऐसा नहीं होता तब आज-कल की अभिनेत्रियों का वज़न 40-45 किलो है क्योंकि आज बाज़ार में उनके अभिनय से ज्यादा उनकी देह महत्वपूर्ण हो गई है। स्त्रीवादी लेखिका लारा-मुल्वे कहती हैं- ''सिनेमा में स्त्री हमेशा पुरुष की वासना और उसकी दमित इच्छाओं के पोषण का जरिया रही है। फिल्मों में नायिका पुरुष के चक्षुकाम को तुष्ट करती है और उसे एक सुंदर-स्त्री को निहारने का सुख प्रदान करती है।''[पअ] आज इस बाज़ारवाद के कारण युवतियाँ भी इन अभिनेत्रियों की देखा-देखी साईज फिगर चाहती हैं जिसके कारण उनका शरीर कमजोर होता जा रहा है। पर नहीं उन्हें तो 'प्रियंका', 'दीपिका पाडुकोण' जैसा दिखना है। बाज़ार में महिलाओं के दिमाग को फ्रीज कर दिया है कि पतला इंसान ही खूबसूरत दिखता है।

आज व्यावसायिक-सिनेमा में स्त्री को एक बिकाऊ वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। शुरूआती दौर के सिनेमा में जहाँ स्त्री का चेहरा केन्द्र में रहता था वहीं इस दौर में सिनेमा में स्त्री की देह है। अगर हम पुरानी फिल्म 'प्यासा' की बात करें तो उस फिल्म में वहीदा-रहमान अपने चेहरे के भाव से जिस तरह अपने ग्राहकों को आकर्षित करती है वह काबिल-ए-तारीफ है। वहीं अगर हम वहीदा के वस्त्रों की बात करें तो वह साड़ी पहने हुए है। वहीदा के कपड़ों में किसी भी प्रकार की अश्लीलता नहीं है। वहीं रेखा की फिल्म 'तवायफ' जिसमें वह एक तवायफ़ की भूमिका में नज़र आती हैं उसके चेहरे के भाव और कपड़े कितने लाजवाब थे। कहीं भी किसी प्रकार की कोई अश्लीलता नहीं है। किन्तु अगर हम आज के दौर में वेश्याओं पर बनी फिल्में पर नज़र डाले तो उनके कपड़ों में अश्लीलता के अलावा कुछ नहीं है। ''शुरूआती दौर के सिनेमा में जहाँ स्त्री का चेहरा केन्द्र में है, आज स्त्री की देह केन्द्र में है। यह परिवर्तन पूंजी की देन है। पूंजीवाद ने स्त्री की देह के प्रदर्शन को स्त्री-मुक्ति का पर्याय बनाने की कोशिश की है जिसमें वह काफी हद तक सफल भी रहा। परन्तु वास्तव में यह स्त्री को सामन्ती जकड़न से मुक्ति का छलावा देकर बाज़ार के हवाले करने की कवायद है।''[अ] साथ ही अगर हम चेहरे के भाव की बात करें तो वह बहुत ही भद्दे होते हैं। कुछ समय पहले आई फिल्म 'चमेली' या 'रज्जो' की बात करें तो उनके कपड़ों में सिर्फ और सिर्फ अंग-प्रदर्शन था। उनके वस्त्र इस तरह से डिजाइन किए जाते हैं जिससे उनके शरीर का प्रदर्शन ज्यादा से ज्यादा हो सके। इन फिल्मों में नायिकाओं के कपड़े बाज़ार तय करता है। फिल्म में किस तरह नृत्य होगा, कब कहाँ कैसे दृश्य दिखाए जाएंगे यह भी बाज़ार तय करता है। इन फिल्मों में 'ओब्सिनिटी' की भरमार होती है। क्योंकि सिनेमा विभिन्न

Review Of Research
Vol. 4 | Issue. 6 | March. 2015
Impact Factor : 3.1402 (UIF)
ISSN:-2249-894X Available online at www.ror.isrj.org

कलाओं के समायोजन के साथ ही एक व्यवसाय भी है। इस व्यवसाय में एक बड़ी पूंजी का निवेश होता है जिसका अंतिम लक्ष्य मुनाफा कमाना ही होता है। इस मुनाफे के लिए फिल्म-निर्माता हर तरह के हथकण्डे अपनाता है। इस मुनाफे के लिए फिल्म-निर्माता स्त्री-देह का भरपूर इस्तेमाल करता है। कहीं वह नायिका भीगी साड़ी में नज़र आएगी तो कहीं उसे बिकनी में कैद कर लिया जाता है। जिसके कारण वह अधिक से अधिक दर्शक जुटा सके। डॉ. विजय अग्रवाल कहते हैं ''यदि ब्लैक एण्ड वाइट' फिल्मों को छोड़ दिया जाए तो बाद की जिन रंगीन फिल्मों में नायिकाओं ने अपनी सफलता के झण्डे गाड़े उसका मुख्य कारण अभिनय कम, उनका सौंदर्य ही अधिक रहा है। सच तो यह है कि बड़े-बड़े पर्दे पर रंग के आगमन के साथ ही नारी सौंदर्य को दिखाने की इतनी संभावनाएँ पैदा हो गई कि उनका अभिनय पीछे छूटता चला गया और इस दौर में 'देह' आगे निकल गई है।''[अप]

अभी कुछ समय पहले बालाजी प्रोडक्शन की 'डर्टी-पिक्चर' आई थी इस फिल्म में अभिनय के नाम पर अश्लीलता की भरमार थी। फिल्म का एक डायलॉग था कि फिल्म सिर्फ तीन चीज़ों से चलती है इंटरटेनमेंट, इंटरटेनमेंट, इंटरटेनमेंट। इस फिल्म का यह डायलॉग आज के बाज़ारवाद के लिए कितना प्रासंगिक है। आज की फिल्मों में वही दिखता है जो बाज़ार तय करता है। फिल्मों में यदि कोई स्त्री साइकिल से गिर जाती है तब कैमरा उस अभिनेत्री / लड़की की सिसकी, उसके दर्द, उसकी पीड़ा को दर्शाने के बजाय नायिका की जांघों पर केन्द्रित किया जाता है जिससे दर्शकों में कामोत्तेजना पैदा हो सके। आज की फिल्मों में किसी अभिनेत्री की स्कर्ट उड़ना, साड़ी का पल्लू गिरना, ये सभी गतिविधियाँ इसलिए की जाती है जिससे फिल्म के दर्शक बढ़ सके, फिल्म बिक सके। पुरानी फिल्म 'चलतो का नाम गाड़ी' का गाना 'एक लड़की भीगी-भागी सी' आज भी लोगों की जुबान पर है। मधुबाला का उस समय ड्रैसिंग सेंस कितना सहज, सरल था। किसी भी तरह की कोई अश्लीलता नज़र नहीं आती। किन्तु अगर हम रवीना टंडन पर फिल्माया गाना 'टिप-टिप बरसा पानी' या फिर श्रीदेवी का पर फिल्माया 'काटे नहीं कटते ये दिन ये रात' की बात करें तो इन गानों में क्या दर्शाया गया है?... इन गानों में एक अभिनेत्री के भीगे जिस्म को दिखाया गया है।

सिनेमा हॉल में जब फिल्म देखने जाते है और तब कामोत्तेजना पैदा करने वाले दृश्य आते हैं जब पूरा हॉल सीटियों से गूंज पड़ता है क्योंकि दर्शक यह भूल जाते हैं कि वह नायिका है और अपने अभिनय का प्रदर्शन कर रही है। दर्शकों को वह केवल एक वस्तु / उत्पाद (Commodity) नज़र आती है। कुछ समय पहले आई 'जिस्म-2', 'रागिनी एमएमएस' में कहानी के नाम पर कुछ नहीं था, उनमें अगर कुछ था तो वह सिर्फ और सिर्फ स्त्री देह। आज बाज़ार ने स्त्री को सेक्स सिंबल के रूप में प्रस्तुत किया है। फिल्मकार के लिए बलात्कार, आइटम नम्बर, भड़कीले वस्त्र, गीत, वर्षा आदि देह के उपकरण

हैं। ''प्रेम नामक विषय के महत्वपूर्ण होते ही स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य की प्रस्तुति के रास्ते खुल गए, स्नान दृश्य, शरीर को अनावृत रखने वाली वेशभूषा और बलात्कार तथा रोमांस के दृश्य पर फार्मूला फिल्म के जरूरी घटक हैं।''[अपप] अब प्रश्न यह उठता है कि क्या आज के दौर में अभिनेत्रियों को सिर्फ अपने शरीर को दिखाने के पैसे मिलते हैं या अभिनय के? ऐसा नहीं है कि आज के दौर में सार्थक सिनेमा नहीं है। हाल ही में 'क्वीन' और 'हाइवे' जैसी फिल्मों ने यह साबित कर दिया कि अगर अभिनेत्रियाँ चाहे तो वह अपने अभिनय के दम पर फिल्मों को सफल बना सकती है। न कि देह के दम पर। इन दोनों फिल्मों में 'कंगना' और 'आलिया' पूरे कपड़ो में नज़र आती हैं, कहीं कोई भड़कीले दृश्य या कामोत्तेजना पैदा करने वाले वस्त्र नहीं हैं फिर भी फिल्में अच्छा बिजनेस करती है और दर्शक जुटाती है।

आज कल कहीं भी किसी नई गाड़ी को लॉच करना है, नया परफ्यूम, साबुन लॉच करना है तो एक अभिनेत्री की देह का खूब इस्तेमाल किया जाता है। इन्हें एक घण्टे, 2 घण्टे के लिए खरीदा जाता है और गाड़ी के साथ अच्छे-अच्छे कपड़ों में सजाकर खड़ा कर दिया जाता है जिससे लोग इनकी तरफ आकर्षित हैं और इनके बहाने से लोग नई गाड़ियाँ खरीद लें। आज अभिनेत्रियाँ सिर्फ देह है, माल है और अपने प्रोडक्ट को बेचने का एक जरूरी सामान।

'बाज़ार के लिए स्त्री एक देह है। एक ऐसी खूबसूरत निर्जीव 'डमी' जिसे महंगे कपड़े पहनाकर शो-केस में सजा दिया जाता है जिसके सहारे अधोवस्त्रों से लेकर परफ्यूम, जूता, चप्पल, गाड़ी, कॉन्डम, कॉसमैटिक सब कुछ बेचा जा रहा है।''[अपपप]

परन्तु इस प्रकार का सार्थक सिनेमा बहुत कम है अगर है तो व्यावसायिक सिनेमा। किन्तु हो सकता है धीरे-धीरे चीज़े बदले परन्तु ऐसा होना असंभव सा प्रतीत होता है। वैश्वीकरण के इस दौर में निरंतर इनका प्रयोग बढ़ता जाएगा न कि कम होगा क्योंकि आज जिस नई संस्कृति का निर्माण हो रहा है वह भोगवादी संस्कृति है।

[i] आज कल, मार्च 2014, विभावरी, पृष्ठ 81

[ii] वही

[iii] आज कल, मार्च 2014, कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ 13

[iv] आज कल, मार्च 2014, विभावरी, पृष्ठ 81

[v] Story John Cultures Studies and the Study of Popular Culture, Page 65

[vi] अग्रवाल, डॉ.विजय, आज का सिनेमा, पृष्ठ 98

[vii] ओझा, डॉ. अनुपम, भारतीय सिने सिद्धांत, पृष्ठ 60

[viii] मगहर, फरवरी 2014, नीरु, पृष्ठ 117